# मृत-कथा

हिन्दी ADDA

जयशंकर

# मृत-कथा

https://www.hindiadda.com/mrt-katha/

बरसाली में सर्दियाँ कुछ ज्यादा वक्त तक बनी रहती हैं। मार्च आते-आते तक रातें सर्द बनी रहती हैं। मार्च के दिनों के आसमान की लीला देखने के लिए जब मैं रेलवे इंस्टीट्यूट के पड़ोस के स्टेज पर बैठा रहता हूँ, तब अपनी नीले रंग की शॉल का उपयोग करता हूँ। यह शाल वन्या की है। वह और मेरी बिटिया अभी-अभी यहाँ से गए हैं। कभी वे दोनों यहाँ आ जाते हैं और कभी मैं दो घंटे की दूरी पर बसे हुए अपने शहर में चला जाता हूँ। मुझे बरसाली में बसे हुए एक साल से भी ज्यादा वक्त बीत चुका है। अपने परिवार, अध्यापन की अपनी नौकरी को छोड़कर जब यहाँ आया था तब मन में कुछ ऐसी कहानियाँ लिखने की प्रबल आकांक्षा थी जैसी कहानियाँ मैं लिख तो नहीं पाया था, किंतु लिखना चाहता रहा था।

न लिख पाने का, जरा-सा भी अर्थपूर्ण न लिख पाने का बंजरपन, खालीपन और अवसाद, जब मेरे लिए असहनीय होता चला गया तब मैं बरसाली में चला गया। मैंने दो कमरे का मकान किराये पर लिया। अपनी साइकिल, कुछ किताबें, डेस्क, कुर्सी, रिकार्ड प्लेयर और बायनाकुलर को भी साथ में रखकर, पैसेंजर ट्रेन से यहाँ चला आया। मेरे यहाँ आने का पहला दिन निरंतर होती बारिश का दिन था। रिक्शे मिलने तक मैं पुराने पुल पर खड़ा हुआ सतपुड़ा की पहाड़ियों, जंगलों और जमीन पर गिरती बारिश को देखता रहा था। इतनी-इतनी बारिश को अड़तालिस साल की उम्र में पहली बार देखा था। फिर तीन रिक्शों में कस्बे की एकमात्र पक्की सड़क से मैं अपने घर आया था। बारिश में लुटे-पिटे दो कमरे। दो-तीन तक छत टपकती रही। फिर धूप निकलने पर एक कारीगर ने छत की मरम्मत की।

पहले-पहले जो जगह-जगह पर कीचड़, बारिश के पानी के चहबच्चे, बिजली का गुल होते जाना, चाय तक के लिए रेलवे स्टेशन तक जाना-कुछ इस तरह अखरता रहा कि यह भी सोचा कि अपने शहर लौटना ही ठीक रहेगा। कहानी लिखना भले नहीं हो सकेगा पर जीना तो संभव हो सकेगा ! यहाँ पर तो जीना ही मुश्किल जान पड़ रहा था। आसपास रेलवे कर्मचारियों के मकान थे। एस्बेस्टस की शीट्स की छतें और दीवारें। उनके सामने खड़े कनेर या चमेली के छोटे-बड़े पेड़। एक बड़ा-सा मैदान, जिस पर बच्चे खेला करते थे और जहाँ से लोको शेड से बाहर निकलता धुँआ नजर आता रहता था।

मैंने वन्या को अपनी पहली ही चिट्टी में नीले रंग के सूती कपड़ों में काम पर जाते और काम से लौटते कारीगरों के चेहरों के बारे में लिखा था। कुछ चेहरों को पेंसिल से कागज पर उतारकर भिजवाया था। तभी मैंने जाना था कि किसी भी चेहरे को करीब से देखना, उस चेहरे पर कुछ देर तक ठहरना, ठिठकना कितना आत्मीय-सा, कितना

अलग-सा अनुभव होता है। बरबस ही हम खुद को किसी के बहुत ज्यादा करीब पाते हैं। उसकी जिंदगी को साझा करने की लालसा मन में जगती है और उससे बातचीत करने की इच्छा मन में अपना घर बनाती है। कभी स्वेटर बुनती हुई अपनी अम्मा के चेहरे की तरफ या संस्कृत के श्लोक दोहराते हुए अपने पिता के चेहरे को खूब मन से देखा करता था। यह बचपन का वक्त था जब इस तरह का बहुत कुछ किया जा सकता था, इस तरह देखने का वक्त हुआ करता था।

बाबा मेरे बचपन में ही चले गए और अम्मा को गुजरे हुए भी दो बरस होने को आ रहे हैं। अब भी बीच-बीच में माँ का साँवला, दक्षिण भारतीय चेहरा सामने आता रहता है और पूछता रहता है कि - 'जयु, तुम अपनी जिंदगी को गंभीरता से लेना कब शुरू करोगे?'

इस तरह का कुछ-न-कुछ वह मेरे बचपन से ही कहती आई थी। माँ की मुझसे उम्मीदें बँधी ही रहीं। वह मेरे जीवन का कोई ठोस और गहरा आधार होने की इच्छा रखती रही। मेरे किशोर होते ही वह मुझे यात्राओं पर निकलने, लोगों से मिलने, किताबें पढ़ने और सबसे ज्यादा प्रकृति के निकट बने रहने के लिए प्रोत्साहित करती रही थी। उसने कभी मुझ पर हाथ नहीं उठाया। पर कभी भी जरूरत से ज्यादा न पैसे दिए और न ही उपयोगी चीजें। कमीजें हो या पेंसिल, जूते या रूमाल, आइस्क्रीम हो या सिनेमा के टिकट, हर जगह फिजूलखर्ची के लिए कोई जगह नहीं थी। माँ ने अपने तीनों बच्चों को सिर्फ वस्तुओं से ही नहीं, विचारों से भी जोड़ने का प्रयत्न किया था।

जब मैंने मेरे कॉलेज में मनोविज्ञान पढ़ रही मुझसे तीन वर्ष बड़ी लड़की से विवाह की इच्छा जाहिर की तो माँ को यह जानना अच्छा लगा कि वन्या का मन के विज्ञान से कोई रिश्ता है। यह दीगर बात थी कि वन्या का मनोविज्ञान से उतना ही कामचलाऊ रिश्ता रहा, जितना मेरा अंग्रेजी साहित्य से। हम दोनों ने ही नौकरी पाने की खातिर, इन विषयों को चुना भी और पढ़ा भी। हम दोनों ही अपने-अपने विषय में एम.ए. में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, लेकिन हम दोनों की कभी कोई सच्ची परख हो पाती तो हम बी.ए. पास होने के भी काबिल नहीं थे।

ऐसा होता है। कोई आदमी किसी विषय से बरसों जुड़ा रहता है पर उस आदमी का उस विषय से अंतरंग तो क्या, जरा-सा भी संबंध नहीं बन पाता है। मैं ही इसका उदाहरण हूँ। बरसों से कहानियाँ छपी हैं। कभी-कभार कुछ पाठकों की चिट्ठियाँ भी मिली हैं। पर जब कभी थोड़ी-सी निस्संगता के साथ मैं अपनी किसी भी कहानी को पढ़ता हूँ, तब मुझे उसमें तरह-तरह की कमजोरियाँ किस्म-किस्म के पलायन, रेखांकित की जा

सकने वाली लापरवाही, एकदम नजर आती अधीरता और इस तरह एक मुकम्मिल कहानी की जगह एक मुकम्मिल किस्म की गैरजिम्मेदारी नजर आती है।

अपने लेखक का ऐसा आलस्य, अपना कुशल कारीगर न होना, मेहनत से बचते रहना, अधीरता लिए हुए लिखते चला जाना, छपते चला जाना, थोड़ा-थोड़ा मेरे ध्यान में आता ही रहा था। फिर यह हुआ कि मैं अपनी पत्नी और बिटिया के साथ करमाझिरी के जंगल के डाकबँगले में तीन-चार दिन रहा। वे दोनों सुबह-सुबह सफारी पर निकल जाते और मैं डाकबँगले में अकेले रह जाता। वहीं मुझे अंग्रेज़ी लेखक किपलिंग की सीधी-सादी कहानियों को पढ़ने का मौका मिला। शायद उसी जंगल में उनका पात्र मोगली, जंगली जानवरों के साथ भटका करता था। जंगल की ही एक सुबह मैं कुछ जल्दी ही जाग गया था। उस सुबह ही मुझे अपना लिखा गया बहुत ही ज्यादा निरर्थक, हद से ज्यादा सतही, छल-कपट, आलस्य और अधीरता से रचा गया जान पड़ा। मुझे अपनी आत्ममुग्धता पर शर्म भी आई। मुझे अपने पर ही शर्म आई कि मैं पत्र-पत्रिकाओं में छपी अपनी साधारण से भी गई-गुजरी कहानियों को अब तक देख नहीं पाया था। परख नहीं पाया था।

मेरे सामने मध्यभारत का वह विशालकाय, सदियों पुराना जंगल खड़ा था और मेरे भीतर उसका सन्नाटा, उसकी सरसराहटें और फुसफुसाहटें। वहीं मुझे बहती हुई वैनगंगा नदी का ख्याल आया। मैं माँ के साथ उस नदी के करीब जाता रहा था। वह वहाँ पर पूजा के लिए जाती रही थी। जंगल के उस सन्नाटे में, वहाँ पर आती नदी की कलकल आवाज में कुछ ऐसा रहा होगा कि उस सुबह से मैंने अपने जीवन को कुछ गंभीरता से लेने का संकल्प लिया था।

करमाझिरी के जंगल में मेरे भीतर के जंगल से उठी उस हूक ने, उन सरसराहटों ने फिर थमने का नाम ही नहीं लिया। मैं रात-रात भर सो नहीं पाता। अपने घर की छत पर चहलकदमी करता रहता। मेरा मन आकाश, तारों, ग्रहों और उनकी असाधारण सुंदरता में भी नहीं अटकता। मेरा खाना पीना हराम हो गया। वन्या मुझे डॉक्टरों के पास ले जाने लगी। मेरी देह की तरह-तरह से जाँच की जाने लगी। फिर एक मनोचिकित्सक ने मुझे आबोहवा बदलने, नेचरोपैथी के लिए बरसाली के पास के आरोग्य-निकेतन में कुछ वक्त गुजारने का सुझाव दिया और पहले मैं यहाँ कुछ समय के लिए और बाद में नौकरी से अलग होकर हमेशा के लिए चला आया।

यहाँ जंगल, पेड़, पहाड़, झरने और दूर-दूर तक फेले हुए आदिवासियों के गाँव हैं। गोंडवाना के इस इलाके के आदिवासियों को मैं बीच-बीच में बाजार-हाट में देख भी

लेता हूँ। ये यहाँ जलाऊ लकड़ी को बेचने, शहद, जड़ी-बूटियों, महुए की शराब और दोना-पत्तल बेचने के लिए आते रहते हैं। यहीं अंग्रेजों के दिनों में बसाई गई रेलवे कॉलोनी है और उसी जमाने में कभी खड़ा किया गया एयरफोर्स स्टेशन। कभी वन्या और बिटिया यहाँ चले आते हैं और कभी मैं उनके पास चला जाता हूँ। यहाँ जब कभी अपने पढ़ने-लिखने से ऊब जाता हूँ, तब आसपास के खेतों-खलिहानों, किसानों के घरों, उनके मकानों के आसपास खड़े पेड़ो, मंदिरों, चौपालों, कुम्हारों के घरों, पगडंडियों, तालाबों की तरफ निकल पड़ता हूँ। पड़ोस में ही एक गाँव है जहाँ खुदाई में बौद्धकालीन मूर्तियों के अवशेष मिल रहे हैं। कभी-कभी खुदाई के उस इलाके में भी चला जाता है।

पर कोई ठीक-ठाक सी, किसी एक आदमी के लिए भी उपयोगी, कम-से-कम खुद ही पढ़ी जा सके, ऐसी अत्यंत साधारण कहानी का लिखा जाना, यहाँ भी, यहाँ के आत्मीय एकांत में भी संभव नहीं हो पाया है। मौसम बदल रहा है। पेड़ों की सरसराहटें आती हैं। गर्मियों की आने की अपनी-सी गंध आती है। प्रवासी परिंदों के झुंड के झुंड आते हैं, पर कहानी नहीं आती है। कहानी का चेहरा तक नहीं उभरता है। पन्नों पर पन्ने लिख चुका हूँ। दिन-दिन भर भी लिखा है। लगातार भी लिखा है और रुक-रुककर भी लिखा है। एक पैराग्राफ ही ऐसा लिख लेता जिसे वन्या को सुनाने का साहस बटोर पाता! मैं सोचता रहता हूँ कि मैंने कितनी ऐसी कहानियाँ पढ़ी हैं जिनको बार-बार पढ़ने का मन होता रहा है। जिनमें कितनी ही अविस्मरणीय जगहें आई हैं और कितनी ही मार्मिक और शाश्वत पंक्तियाँ। कितने ही उजले शब्द, कितने ही याद किए जाने वाले पात्र। कहाँ से आता होगा यह सब? किस तरह लिखते होंगे ये सब लेखक? क्या यह सब दैवीय ढंग से होता होगा? क्या लिखना कोई जादू-टोना होता होगा? क्या लेखक को जादूकर बनने तक जाना पड़ता होगा?

वन्या कहती है कि लिखना मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे अपने बस की बात नहीं है। मुझे कुछ और करना चाहिए। कुछ और से उसका मतलब यह भी होता है कि मुझे संगीत, नाटक या चित्रकला के इलाक़े में कुछ करने के बारे में सोचना चाहिए। वह मुझे हताश नहीं करना चाहती। सीधे-सीधे यह नहीं कहना चाहती कि मुझे लिखने का ख्याल ही छोड़ देना चाहिए। जिस इलाके को अपने जीवन के इतने बरस दिए और वहीं कुछ नहीं कर पाया तब चित्रकला, संगीत या नाटक में क्या कुछ कर पाऊँगा? थोड़ा-सा हिंदुस्तानी क्लासिकल सुना है। कभी-कभार यूरोप के कुछ प्रसिद्ध चित्रकारों के चित्रों को किताबों में ही देखा है। एक परिंदे तक का अच्छा चित्र नहीं उतार सकता। न किसी राग की समझ है और न आवाज की रियाज। इतना-इतना संकोच साथ है तो क्या

नाटक में अभिनय करूँगा? वन्या भी यह सब जानती समझती है, लेकिन मेरे दिल को छोटा नहीं करना चाहती। मुझे थका हुआ, हारा हुआ देखने से बचना चाहती है।

वह जानती है कि मैं भावुक हूँ। मुझमें सच्चाई को स्वीकार करने की उतनी और वैसी क्षमता नहीं है जो मेरी उम्र में होनी चाहिए। मैं भागना और भूलना जानता हूँ, समझना और सहना नहीं। मैं सोचता कुछ और हूँ और जीता कुछ और ही हूँ। मैं ट्यूशन की संस्कृति से असहमत रहता आया हूँ और मैंने अपनी बिटिया को ट्यूशन के लिए भिजवाया है। मैं दूसरों को मदद करने की बात जरूर करता हूँ पर हमारे घर काम करती आई साँवली की शिक्षा का पूरा खर्च मैंने नहीं वन्या ने उठाया है। वन्या मुझे जानती है। मेरी माँ भी मुझे जानती रही थी और इसीलिए बार-बार अपनी आखिरी साँस तक कहती रही थी कि - 'जयू, तुम अपनी जिंदगी को गंभीरता से क्यों नहीं लेते?

एक शाम इसी बरसाली की सड़क पर, जब आकाश में तारों की टिमटिमाहट देखते ही बनती थी, चाँद अपना असाधारण सौंदर्य लिए हुए सैर कर रहा था तब मैंने वन्या से न लिख पाने के अपने अवसाद का जिक्र किया था। फिर न जाने हमारी बातों में क्यों बनारस के घाटों का, कुंभ के तीर्थयात्रियों का और फिर इस तरह हम दोनों के ही परिचित रहे उस आदमी का जिक्र आया था जो ठुमरी गायन में निपुण हो चुका था। जहाँ-तहाँ उसके गायन की महफिलें खड़े होने लगी थी वह नाम भी कमाने लगा और धन भी। कलकत्ता का संगीत का एक बड़ा रसिक उसे छात्रों को संगीत सिखाने के लिए ले गया था। बाद में हमने जाना कि वह युवा गायक संन्यासी हो गया है। मध्यभारत के किसी प्रसिद्ध शिवमंदिर के परिसर में रहता है, वहीं गाता है और भिक्षा से अपना पेट भरता है, तन ढँकता है।

कभी हम दोनों के ही शहर के नागरिक रहे उस अधेड़ गायक और संन्यासी का जिक्र, मुझे उदास कर गया था। हमारी बिटिया घर पर थी। वन्या घर लौट आई। मैं बरसाली की उस चाँदनी रात में आधी रात तक भटकता रहा। मैं सोचता रहा कि क्यों एक दिन, एक आदमी अपना स्वेटर और मफलर, अपना चश्मा और घड़ी, अपना पेन और पर्स छोड़कर अपना घर हमेशा के लिए छोड़ देता है, अपने परिवार और पड़ोस के लोगों को बताये बिना किसी अज्ञात जगह पर, किसी नदी के किनारे, किसी कस्बाती पहाड़ी पर अपना जीवन गुजारने लगता है। और हमारी इस पुरानी दुनिया में ऐसे लोग भी तो आते रहते हैं जो अपने दुख से छुटकारा पाने के लिए अपना घर ही नहीं, इस संसार को ही छोड़ने का फैसला कर लेते हैं।

इस तरह के अभागे ओर बिरले लोगों की कहानियाँ किस तरह लिखी जाती होंगी? कोई चाहे तो कितने-कितने लोगों की कितनी-कितनी कहानियाँ लिख सकता है। पर चाह भर लेने से तो कहानी नहीं बनती। कितना-कितना काम करना पड़ता है तब कहीं कहानी पनप पाती है। शायद कहानी अपने वाचक और लेखक को जादूगर ही नहीं, कारीगर के रूप में भी देखना चाहती होगी। इसीलिए तो इतनी बूढ़ी दुनिया में, इतने बड़े संसार में कहानियों के नाम पर इतनी कम कहानियाँ हैं। लोग जीते हैं। बड़े से बड़ा, कठिन से कठिन जीवन जीते हैं। कितनी सारी घटनाओं, कितने-कितने, कैसे-कैसे अनुभवों के साथ उनका जीवन खड़ा होता रहता है। पर कहानी कहना ही नहीं आता हो, तब ऐसे दुर्लभ अनुभव, मार्मिक से मार्मिक घटना को जीना भी, कहानी कहने या लिखने में देर तक, दूर तक मददगार नहीं हो पाता है। उस रात अपने लिए एक मुश्किल काम को चुनने की व्यथा और चुनौती के साथ मैं आधी रात को बरसाली के अपने घर में लौटा था। वन्या और मेरी बिटिया के बिस्तर के पड़ोस में खिड़की से आता चाँदनी का चौकोर टुकड़ा सो रहा था।

अब तक यह जान लेने पर भी कि मेरी लिखी गई कहानी मुझे ही अच्छी नहीं लगेगी, दूसरों के लिए मेरी कहानी का जरा-सा भी अर्थ नहीं होगा, मैं अपनी डेस्क के करीब बैठता ही हूँ, कुछ न कुछ लिखता ही हूँ। अब लगता है कि अगर मैं लिखूँगा नहीं तो अपना इतना सारा समय किस तरह काट सकूँगा? पढ़ने में मेरा मन जरा-सा भी नहीं लगता। इतनी उम्र में भी मैं एक पुअर रीडर ही हूँ। हमेशा से ही इतना स्वार्थी रहता आया हूँ कि मित्रता मेरे बस की बात नहीं है। वन्या और बिटिया मुझसे इतना ज्यादा अलग महसूस होती हैं कि उनसे ज्यादा साझा नहीं किया जा सकता है। इसीलिए लिखते रहना एक तरह की विवशता है। सिर्फ मुझे यह साहस जुटाना चाहिए कि मैं अपने लिखे गए को प्रकाशित भी करवाने का लोभ संवरण कर सकूँ। ऐसा हो सकता है। मुझे अपनी सीमाओं को समझना होगा। अपने स्वभाव को समझना भी होगा और बदलना भी।

मैं इधर थोड़ा-सा समझ पा रहा हूँ कि एक अच्छी कहानी लिखने के लिए, सिर्फ प्रयत्नों की ही नहीं, प्रतीक्षा की भी जरूरत होती है। शब्दों, वाक्यों, विचारों और भावनाओं को कहानी में अपनी-अपनी जगहों को बनाने की प्रतीक्षा। इन सबके अपने बेहतर रिश्तों के बनने की प्रतीक्षा। अब मैं कुछ ज्यादा प्रयत्न भी करूँगा और कुछ ज्यादा प्रतीक्षा भी, ताकि मेरी लिखी कहानी में कोई विचार खड़ा हो सके, कोई भावना पनप सके, कोई शब्द या वाक्य जन्म ले सके। अब मैं मरे हुए वाक्यों को लिखने से

बचना चाहूँगा और अगर लिख भी लिया तो उसे छपवाने की लालच से दूर चला जाऊँगा।

बरसाली के एकांत अकेलेपन के इन बसंती दिनों में न जाने उन बूढ़े लेखक की इस बात का क्यों ख्याल आ रहा है कि या तो ठीक से लिखना हो पाता है या ठीक से जीना। अच्छी तरह जीना भी और अच्छी तरह लिख भी सकना शायद संभव नहीं है। यहाँ की पहाड़ियों, पगडंडियों, पेड़ों और सड़कों के आसपास भटकते हुए मुझे उन बूढ़े, जीवन के आखिरी दिनों में पूरी तरह अंधे हो चुके लातिनी अमेरिकी लेखक की कुछ असाधारण कहानियों की याद भी आती रही है।

कभी उनकी कहानियों को पढ़ते हुए भी कहानी की कला, कहानी के रस और रहस्य का और इस तरह कहानी की अपनी लीला का गहरा अहसास मिला था। कहानी की उस लीला को अपनी खुद की किसी कहानी में एक प्रतिशत भी पकड़ पाना, क्या इस जन्म में, मेरा स्वप्न ही बना रहेगा? स्वप्न जो सिर्फ देखने के लिए ही नहीं, जीने के लिए भी होता है।